

मानव जीवन में योग एवं आहार का महत्व

आशीष कुमार चतुर्वेदी¹, डॉ. शैलजा त्रिवेदी², डॉ. भावना ठाकुर³

¹शोधार्थी, एम.एससी., ²निर्देशक, ³विभागाध्यक्ष

^{1,2,3}योग एवं मानव चेतना विभाग, अटल बिहारी वाजपेयी हिन्दी विश्वविद्यालय, भोपाल

सार - अर्थप्रधान एवं अतिव्यस्त आधुनिक जीवन शैली अपनाने के कारण आज का मानव न चाहते हुए भी दबाव एवं तनाव, अविश्राम, अराजकता, रोग ग्रस्त, अनिद्रा, निराशा, विफलता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या तथा अनेकानेक कष्टपूर्ण परिस्थितियों में जीवन निर्वाह करने के लिए बाध्य हो गया है। जल, वायु, ध्वनि तथा अन्न प्रदूषण के साथ-साथ ऋणात्मक दुर्भावनाओं का भी वह शिकार बन चुका है। परिणामस्वरूप अनेकानेक शारीरिक रोगों के साथ-साथ मानसिक असंतुलन, चिंताएं, उदासी, सूनापन एवं दुर्भावनात्मक विचार उसे चारों ओर से घेर लेते हैं। उसके मन की शान्ति भंग हो जाती है लेकिन इन परिस्थितियों का दृढ़ता के साथ सामना करने के लिए हमारी भारतीय पौराणिक योग पद्धति सहायता कर सकती हैं। तथ्य तो यह है कि मानव अस्तित्व का मुख्य उद्देश्य एक मात्र योग है। उसका प्रादुर्भाव योग में रहने के लिए हुआ है। योग साधना को यदि अपने जीवन का अभिन्न अंग बना दिया जाए तो यह मानव की खोई हुई राजसत्ता की पुनर्प्राप्ति का आश्वासन देता है एवं पुनः अनन्त सत्य के साथ जीवन जीने की कला सिखाता है। योग स्वयं जीवन का संपूर्ण सद्बिज्ञान है। योग हमारे सभी शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक कष्टों एवं रोगों से मुक्ति दिलाता है। यह परिपूर्णता एवं अखण्ड आनंद के लिए वचनबद्ध है।

मुख्य शब्द - योग, आहार, दबाव एवं तनाव, अविश्राम, अराजकता, रोग ग्रस्त, अनिद्रा, निराशा, विफलता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या।

I. योग

भारतीय संस्कृति का एक आधार स्तम्भ है। जो प्राचिन काल से आधुनिक काल तक हमारे काल से जुड़ा हुआ है। इस योग का महत्व प्राचिन काल से भी था तथा आधुनिक काल में भी इसका महत्व और अधिक बड़ा है। प्रिय पाठको योग एक ऐसी विद्या है जिसके द्वारा मन को अविद्या, अस्मिता आदि द्वेषों से बचाकर वृत्तियों से रहित कर परमात्मा में लीन करने का ज्ञान प्राप्त होता है एक सामान्य ज्ञान से लेकर उच्च कोटि के साधको के लिए योग के अलग-अलग मार्गों का निर्देश अलग-अलग भागों में किया गया है इन सभी मार्गों में साधना एवं साधन की विधि अलग-अलग हो सकती है किन्तु इन सभी का अन्तिम उद्देश्य परम तत्व को प्राप्त करना होता है।

योग का उद्भव वेदों से होता है तथा इसके विकास की एक क्रमबद्ध श्रृंखला प्रारम्भ होती है वेद के उपरान्त उपनिषदों तथा भिन्न-भिन्न स्मृतियों में स्मृतियों के उपरान्त विभिन्न दर्शनों एवं यौगिक ग्रन्थों में तत्पश्चात् गीता में तथा वर्तमान में आधुनिक काल तक इसके विकास की एक क्रमबद्ध श्रृंखला है।

योग का उदभव

योग के उदभव का अर्थ योग के प्रारम्भ अथवा उत्पन्न होने से लिया जा सकता है योग का प्रारम्भ आदि काल से ही है सृष्टि के आदि ग्रन्थ के रूप में वेदों का वर्णन आता है। वेद वह ईश्वरी ज्ञान है। जिसमें मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष पर प्रकाश डाला गया है तथा जीवन को सुखमय बनाते हुए जीवन के चरम लक्ष्य मुक्ति के मार्ग को समझाया गया है। इस मुक्ति के मार्ग के साधन के रूप में योग मार्ग का उल्लेख किया जाता हो सर्वप्रथम ऋग्वेद में कहा गया है-

यजजते मन उत यजजते धियो विप्रा विप्रस्थ बृहतो विपश्चितः॥

अर्थात् जीव (मनुष्य) को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है वह मनुष्य अपने मन को सब विद्याओं से युक्त परमेश्वर में स्थित करें। यहाँ पर मन को परमेश्वर में स्थिर करने का साधन योगाभ्यास का निर्देश दिया गया है

अन्यत्र यजुर्वेद में पुनः कहा गया- योगे योगे तवस्तं वाजे वाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमृतये॥

अर्थात् बार-बार योगाभ्यास करते और बार-बार शारीरिक एवं मानसिक बल बढ़ाते समय हम सब परस्पर मित्रभाव से युक्त होकर अपनी रक्षा के लिए अनन्त बलवान, ऐश्वर्यशाली ईश्वर का ध्यान करते हैं तथा उसका आवाहन करते हैं। योग के उदभव अथवा प्रथम वक्ता के याजवल्क्य स्मृति में कहा गया है-

हिरण्यगर्भो योगस्थ वक्ता नास्यःपुरातनः।

अर्थात् हिरण्यगर्भ ही योग के सबसे पुरातन अथवा आदि प्रवक्ता है। महाभारत में भी हिरण्यगर्भ को ही योग के आदि के रूप में स्वीकार करते हुए कहा गया- सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्शिःस उच्यते।

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नास्यःपुरातनः।

अर्थात् सांख्य के वक्ता परम ऋषि मुनिवर कपिल ही योग के आदि प्रवक्ता हिरण्यगर्भ हैं। हिरण्यगर्भ को वेदों में स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि हिरण्यगर्भ परमात्मा का ही एक विश्लेषण है अर्थात् परमात्मा को ही हिरण्यगर्भ के नाम से पुकारा जाता है।

II. योग का विकास क्रम

जिज्ञासु पाठको पूर्व का अध्ययन इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि योग विद्या का उद्देश्य हिरण्यगर्भ (परमात्मा) द्वारा किया गया तथा वेदों में इसका वर्णन प्राप्त हुआ वेदों के उपरान्त इस विद्या का प्रचार प्रसार

संसार मे हुआ तथा यह विकास अभी तक चलता आ रहा है अब हम इसी विकास क्रम पर दृष्टिगत करते है

III. वेदों में योग का विकास क्रम

वेद संसार के आदि ग्रन्थ है सृष्टि के आरम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य, एवं अंगीरा नामक ऋषियों ने परमात्मा से प्राप्त प्रेरणा के आधार पर वेदों की रचना की इसी कारण वेद को परमात्मा की वाणी की संज्ञा दी जाती है वेदों में योग विद्या का वर्णन भिन्न-भिन्न स्थानों पर किया गया जिनमें से कुछ का वर्णन इस प्रकार है।

-योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे

योगे सखाय इन्द्र भूतये॥

अर्थात् हम योग में तथा हर मुसीबत के परम ऐश्वर्यवान इन्द्र का आवाहन करते है।

यजुर्वेद में कहा है -

यृजजानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धियम्।

अग्नेज्योतिर्निचास्य अध्याभरत्॥ यजु 0 11/1

अर्थात् योग को करने वाले मनुष्य ब्रह्मज्ञान के लिए जब अपने मन को परमेश्वर में युक्त करते है तब परमेश्वर उनकी वृद्धि को अपनी कृपा से अपने मे युक्त कर लेते है फिर वे परमात्मा के प्रकाश को धारण करते है। अथर्ववेद मे शरीरस्थ क्रकों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया-

अष्टचक्र नवद्वारा देवातां पूरयोधया तस्य हिरण्यभयः कोशः स्वर्गो
ज्योतिशावृतः॥ अथर्ववेद 10/1/31

अर्थात् आठ क्रकों एवं नौ द्वारों से युक्त यह शरीर एक अपराजेय देव नगरी है इसमें हिरण्यभय कोश है जो ज्योति एवं आनन्द से परिपूर्ण है।

IV. योगसूत्र के अनुसार

चित्त के विक्षेपक नौ अन्तराय हैं- व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व। उक्त नौ अन्तराय ही चित्त को विक्षिप्त करते है। अतः ये योगविरोधी है। चित्तवृत्तियों के साथ इनका अन्वयव्यतिरेक है। अर्थात् इन विक्षेपों के होने पर प्रमाणादि वृत्तियाँ होत है। जब ये नहीं होते तो वृत्तियाँ भी नहीं होती। वृत्तियों के अभाव में चित्त स्थिर हो जाता है। इस प्रकार चित्तविक्षेप के प्रति ये उक्त नौ अन्तराय ही कारण है।

• व्याधि

‘धातुरसकरणवैशम्यं व्याधिः’ धातुवैशम्य, रसवैशम्य तथा करणवैशम्य को व्याधि कहते है। वात, पित्त और कफ ये तीन धातुएं है। इनमें से यदि एक भी कुपित होकर न्यून या अधिक हो जाये तो यह धातुवैशम्य कहलाता है। जब तक देह में वात, पित्त और कफ समान मात्रा में हैं तो तब इन्हें धातु कहा जाता है। जब इनमें विषमता आ जाती है तब इन्हें दोष कहा जाता है। धातुओं की समता में शरीर स्वस्थ रहता है। विषमता में रूग्ण हो जाता है। आहार का अच्छी तरह से परिपाक न होना रसवैशम्य कहलाता है। यही शरीर में व्याधि बनाता है। ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की शक्ति का मन्द हो जाना करणवैशम्य है।

योगसाधना के लिए सशक्त और दृढ़ इन्द्रियों की आवश्यकता होती है। धातु, रस तथा करण इन तीनों के वैशम्य को व्याधि कहते हैं। रोगी शरीर से समाधि का अभ्यास सम्भव नहीं। अतः व्याधि समाधि के लिए अन्तराय है। कास, श्वास आदि दैहिक रोगों को व्याधि कहते हैं तथा मानविक रोग को व्याधि जैसे- स्मरण शक्ति का अभाव, उन्माद, अरुचि, घृणा, काम, क्रोध आदि। आधि शब्द के ‘वि’ उपसर्ग के योग से व्याधि शब्द बनता है- ‘विशेषण अधीयते अनुभूयते मनसा इति व्याधिः। चूँकि शारीरिक रोग मन को आधि की तुलना में अधिक कष्टकारक अनुभूत होता है, इसलिए शारीरिक रोग का व्याधि नाम सार्थक सिद्ध होता है।

• स्त्यान

‘स्त्यानं अकर्मण्यता चित्तस्य’ अर्थात् चित्त की अकर्मण्यता को स्त्यान कहते हैं। समाधि का अभ्यास करने की इच्छा तो चित्त में होती है किन्तु वैसा सामर्थ्य उसमें नहीं होता। केवल इच्छा से योग सिद्ध नहीं होता, अपितु उसमें योगाभ्यास की शक्ति होनी चाहिए। पुत्रों की आसक्ति, विषयभोग की लालसाएं तथा जीविकोपार्जन के व्यापार चित्त को उलझाये रखते हैं कि चित्त अकर्मण्यता अनुभव करता है। अकर्मण्यता समाधि में अन्तराय है।

• संशय

‘उभयकोटिस्पृग् विज्ञानं संशयः’ अर्थात् यह भी हो सकता है और वह भी हो सकता है। इस प्रकार के ज्ञान को संशय कहते हैं। योग साधना के विषय में जब साधक को कभी-कभी संशय होता है कि मैं योग का अभ्यास कर सकूंगा या नहीं? क्या मुझे सफलता मिलेगी? क्या समाधि से कैवल्य प्राप्त हो सकेगा? हो सकता है मेरा परिश्रम व्यर्थ चला जाये? तब यह संशयात्मक ज्ञान योग का विघ्न बन जाता है।

• प्रमाद

‘समाधिसाधनानामभावनम्’ - समाधि के साधनों में उत्साह पूर्वक प्रवृत्ति न होना प्रमाद कहलाता है। समाधि का अभ्यास प्रारम्भ कर देने पर उसमें वैसा ही उत्साह और दृढता निरन्तर बनी रहनी चाहिए जैसा उत्साह प्रारम्भ में था। प्रायः युवावस्था का मद, धन और प्रभुत्व का दर्प तथा शारीरिक सामर्थ्य का पद साधक के उत्साह को शिथिल कर देता है। अतः प्रमाद समाधि में अन्तराय है।

• आलस्य

‘आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः’ काम के आधिक्य से शरीर तथा तमोगुण के आधिक्य से चित्त भारीपन का अनुभव करता है। शरीर और चित्त के भारी होने से समाधि के साधनों में प्रवृत्ति नहीं होती, इसी मा नाम आलस्य है। प्रमाद और आलस्य में बहुत अन्तर है। प्रमाद प्रायः अविवेक से उत्पन्न होता है। आलस्य में अविवेक तो नहीं होता किन्तु गरिष्ठ भोजन के सेवन से शरीर और चित्त भारी हो जाता है। यह भी योग साधना मार्ग में अन्तराय कहलाता है।

V. योग में साधक एवं बाधक तत्व

योग शब्द का अर्थ संस्कृत भाषा के युज् धातु से निष्पन्न होने के साथ विभिन्न ग्रन्थों के अनुसार योग की परिभाषाओं का अध्ययन किया गया। योग साधना के मार्ग में साधक के लिए साधना में सफलता हेतु सहायक तत्वों तथा साधना में बाधक तत्वों की चर्चा विभिन्न ग्रन्थों के अनुसार की गई है। वास्तविकता में योग साधना चाहे आध्यात्मिक लक्ष्य के लिए की जाए अथवा भौतिक सम्पन्नता हेतु दोनों ही स्थितियों में बाधाओं का आना स्वाभाविक ही है अतः यदि साधक इन बाधाओं को जानकर साधक तत्वों पर नियन्त्रण प्राप्त कर सके तो वह साधना में अवश्य सफल रहता है इसी तथ्य को अध्ययन करेंगे।

योग साधना में बाधक तत्व

जो योग साधक सच्चाई पूर्वक आध्यात्मिक मार्ग का अवलम्बन करता है, वह कुछ ऐसी कठिनाईयों एवं अनोखे अनुभव को प्राप्त करता है, जो उसमें प्रथमतः साहसहीनता तथा निरूत्साह उत्पन्न करके बाधा उत्पन्न करते हैं। इसके विपरीत ऋशियो-मुनियों के प्रायोगात्मक अनुभव के आधार पर योग साधना को सुगमता से प्रशस्त करने हेतु ऐसे उपाय हैं, जो साधना की बाधाओं को प्रभावशाली ढंग से दूर कर देते हैं। अतः योग साधना हेतु बाधक एवं साधक तत्वों का ज्ञान आवश्यक होता है, जिसका विवरण शास्त्रों के अनुसार निम्न प्रकार है-

हठप्रदीपिका के अनुसार

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रहः।

जनसंप्रच लौल्य च शङ्भिर्योगो विनश्चति॥ (ह0प्र0)

योग साधना में साधक तत्व-

उत्साह- योग साधना में प्रवृत्त होने के लिए उत्साह रूपी मनोस्थिति का होना आवश्यक है। उत्साह भरे मन से कार्य प्रारंभ करने से शरीर, मन व इन्द्रियों में प्राण संचार होकर सभी अंग साधना में कार्यरत होने को प्रेरित हो जाते हैं। अतः उत्साहरूपी मनोस्थिति की कुंजी है।

साहस- योगसाधना मार्ग में साहस का भी गुण होना चाहिए। साहसी साधक योग की कठिन क्रियाएं जैसे- वस्त्रधौति, खेचरी आदि की साधना कर सकता है। पहले से ही भयभीत साधक क्रियाओं के मार्ग की ओर नहीं बढ़ सकता।

धैर्य- योगसाधक में घीरता का गुण होना अत्यावश्यक है। यदि साधक रातों-रात साधना में सफलता चाहता है तो ऐसा अधीर साधक बाधाओं से घिरकर पथभ्रष्ट हो जाता है। साधक को गुरुपदेश से संसार की बाधाओं या आन्तरिक स्तर की विपदाओं का धैर्य पूर्वक निराकरण करना चाहिए।

तत्वज्ञान- योगमार्ग पर चलने से पहले आवश्यक है कि साधक साधना मार्ग का उचित ज्ञान शास्त्रों व गुरुपदेशों द्वारा ग्रहण करे। भली-भांति ज्ञान न होने पर साधना में समय नष्ट होगा व नाना प्रकार की बाधाएं उत्पन्न होकर मन भी विचलित होगा।

दृढ-निश्चय- किसी सांसारिक कार्य को प्रारम्भ करने से पहले दृढ-निश्चय की भावना आवश्यक है। जहां निश्चय में ढील हुई वहीं मार्ग बाधित हो जायेगा। अतः योगसाधना मार्ग में प्रवृत्त होने से पहले दृढ-निश्चय की भावना अत्यन्त आवश्यक है।

जनसंग परित्याग- सामाजिक व धार्मिक स्तर पर उत्पन्न बाधाओं से बचाव हेतु अधिक जनसम्पर्क त्यागना चाहिए। अधिक जनसम्पर्क से शारीरिक व मानसिक ऊर्जा का हास होता है। योग-साधना हेतु अधिक जनसम्पर्क त्याज्य है। हठप्रदीपिका में ही अन्यत्र कहा गया है कि-

आहार का अर्थ

आहार का अर्थ है भीतर लेना। मुँह से खाना, पीना, नाक से श्वांस लेना, त्वचा से वायु का- धूप का ग्रहण करना, आदि को भी आहार के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। जन्म के पहले माँ के रक्त द्वारा बालक को पोषण होता है, जन्म के बाद माँ का स्तन-पान ही उसका आहार है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वस्थ रहने के लिए यह आवश्यक है कि वह सन्तुलित आहार लें। आहार क्या है :

1. "आहार विज्ञान कला एवं विज्ञान का वह समन्वयात्मक रूप है जिसके द्वारा व्यक्ति विशेष या व्यक्तियों के समूह को पोषण तथा व्यवस्था के सिद्धान्तों के अनुसार विभिन्न आर्थिक तथा शारीरिक स्थितियों के अनुरूप दिया जाता है। आहार को कला व विज्ञान इसलिए कहा जाता है कि आहार विज्ञान न केवल यह बताता है कि कौन-कौन से पोषक तत्व किस प्रकार लेने चाहिए या उसके क्या परिणाम हो सकते हैं। बल्कि यह भी बताता है कि उचित स्वास्थ्य के लिए कौन-कौन से पोषक तत्व कितनी मात्रा में लिये जायें।
2. आहार को व्यक्ति के भोजन की खुराक भी कहा जाता है अर्थात् "व्यक्ति भूख लगने पर एक बार में जितना ग्रहण करता है, वह भोजन की मात्रा उस व्यक्ति का आहार (DIET) कहलाती है।
3. आहार वह ठोस अथवा तरल पदार्थ है जो जीवित रहने, स्वास्थ्य को बनाये रखने, सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्धों की एकता हेतु संवेगात्मक तृप्ति, सुरक्षा, प्रेम आदि हेतु आवश्यक होता है। व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक और सामाजिक क्षमता के संतुलन के लिए आहार अत्यन्त आवश्यक है।

उपनिषदों में कहा गया है कि- आहार शुद्धौ, सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धौ धूर्वा स्मृतिः अर्थात् आहार शुद्ध होने से अंतःकरण शुद्ध होता है और अंतःकरण शुद्ध होने पर विवेक बुद्धि ठीक काम करती है।

आहार की परिभाषा-

1. "शब्द स्तोम" ग्रन्थ के अनुसार-देहधारी प्रतिक्षण अपने परिश्रम से शारीरिक उपादानों का हास करता है और उसकी पूर्ति के लिए जिस द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है उसी का नाम "आहार" है।
2. हेरी बेंजामिन के अनुसार- आहार उन उपादानों को पूरा करता है जो शरीर की वृद्धि, निर्माण तथा शारीरिक अवयवों के उपयुक्त

संचालन के लिए आवश्यक हैं। यह सम्पूर्ण मानव शरीर के कार्यों को साम्यावस्था में रखता है जिससे शरीर रूपी यंत्र अपनी शक्तिपर्यन्त कार्य करता है। अंग्रेजी में इसे 'फूड' कहते हैं।

3. आचार्य चरक के अनुसार- द्रव्य (आहार द्रव्य) पंचभौतिक हैं। पृथ्वी तल पर सूर्य के ताप तथा जलवायु की सहायता से प्रकृति के उत्पन्न किये हुए शरीरोपयोगी द्रव्य ही आहार हैं।
4. आयुर्वेद के प्रणेता भगवान धन्वन्तरी के अनुसार- "प्राणियों के बल, वीर्य और ओज का मूल आहार है"- वह छः रसों के आधीन है और रस पुनः द्रव्यों के आधीन होते हैं; दोषों का क्षय, दोषों की वृद्धि तथा दोषों की समता, द्रव्यों के रस-गुण-विपाक और वीर्य के कारण हुआ करती है। ब्रह्मादि लोक की भी स्थिति, उत्पत्ति और विनाश का कारण आहार ही है। आहार से ही शरीर की वृद्धि, बल, आरोग्य, वीर्य और इन्द्रियों की प्रसन्नता उत्पन्न होती है और आहार ही की विषमता से रोग उत्पन्न हुआ करते हैं। जिसमें भोज्य, पेय, लेध्य और भक्ष्य ऐसे चार प्रकार हैं; जो नाना द्रव्यों से बने हुए हैं, जिसमें खाद्य के नाना प्रकार होते हैं और जिनके सेवन से शरीर में बहुविध शक्ति उत्पन्न होती है।

VI. निष्कर्ष

योग एवं आहार का हमारे मानव जीवन पर बहुत बड़ा असर पड़ता है इसलिए हमें आहार भी सात्विक रखना चाहिए योग भी करना चाहिए योग करने से योग सीखने से और योग का प्रचार प्रसार करने से हम तो खुद स्वस्थ होते ही हैं परिवार भी स्वस्थ होता है समाज भी स्वस्थ होता है प्रदेश भी स्वस्थ होता है देश भी स्वस्थ होता है इसलिए हम सभी लोगों को यह संकल्प लेना है कि हम सात्विक आहार करेंगे रोज योग करेंगे व्यायाम करेंगे और रोगों से मुक्त रहेंगे।

योग एक तरफ जहां हमारे मानसिक संतुलन का कारण बनता है उसी तरफ दूसरी ओर अगर हम देखें तो योग हमारे आर्थिक क्षेत्र में भी मदद करता है अगर हम आहार के संबंध में बात करें तो आहार एक तरफ जहां हमारे शरीर का पोषण करता है उसी तरीके से दूसरी तरफ आहार हमारे मनोभावों को भी निर्मित करता है इसलिए हमें सात्विक आहार और नित्य योग करना चाहिए।

VII. सन्दर्भ

- [1] योग का इतिहास (अनिरुद्ध जोशी 'शतायु')
- [2] पतंजलि योग सूत्र
- [3] पतंजलि योग दर्शन
- [4] पतंजलि योग सूत्र भाग-1
- [5] पतंजलि योग सूत्र संस्कृत
- [6] पातंजल योग सूत्र पतंजलि योग सूत्र पीडीऍफ़
- [7] योग दर्शन का मूल पाठ
- [8] योग दर्शन